6573

तित्थयर

जैन भवन

वर्ष ५ अंक १२ : अप्रैल १९८२

बनारसी साड़ी
इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२

Prakash Trading Company

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA-700001

Gram : PEARLMOON

Telephone : 22-4110
22-3323

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office

4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office

The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष ५ : अंक १२

अप्रैल १९८२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी - २५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७००००७

सूची

जैन धर्म का प्रसार ३५७

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ३६६

पुस्तक समालोचना ३८०

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या ३८२

ऋषभनाथ के चतुर्विंशति पट, भैरवसिंहपुर, उड़ीसा

जैन धर्म का प्रसार

[पूर्वानुवृत्ति]

श्री के० रिषभ चन्द्र

राजस्थान

राजस्थान में जैन धर्म का अस्तित्व मौर्यकाल से पूर्व का पाया जाता है। अजमेर के निकट बड़ली (नगरी) से जो शिलालेख मिला है, वह भारत का प्राचीनतम लेख है। उसमें महावीर निर्वाण के ८४वें वर्ष का उल्लेख है। इस प्रकार ई० पू० पाँचवीं शती में वहाँ जैन धर्म विद्यमान था। चित्तौड़ के पास मध्यमिका नामक जो स्थान है उसके नाम से ई० पू० तृतीय शती में एक मुनिशाखा की स्थापना का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है। मालवा में कालकाचार्य के द्वारा शकों के लाने का उल्लेख है। उस समय अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी में राजस्थान का दक्षिणी पूर्वी भाग मालवा में शामिल था। ईसा के पूर्व और पश्चात् की एक-दो शताब्दियों में मथुरा में जैन धर्म बहुत सुदृढ़ था। इसके आधार से यह माना जाता है कि उस समय राजस्थान के उत्तर पूर्वी भागमें भी जैन धर्म प्रचलित होगा। बून्दीके पास केशोराय पट्टन में जैन मन्दिर के भग्नावशेषों की संभावना पाँचवीं शती की की जाती है। सातवीं शती में ह्वेनषांग के वर्णन से भिन्नमाल और वैराट में जैनों का अस्तित्व प्रकट होता है। बसन्तगढ़ (सिरोही) में ऋषभदेव की धातु की मूर्त्ति पर छठी शती का लेख विद्यमान है। आठवीं शती के हरिभद्र सूरि चित्तौड़ के निवासी थे। वीरसेनाचार्य ने षट्खण्डागम् तथा कषायप्राभृत एलाचार्य से ८वीं शती में चित्तौड़ में ही सीखा था। इसी शती में उद्योतन सूरि ने आबू पर बृहद्गच्छ की स्थापना की थी।

राजपूत राजा मुख्यतः विष्णुभक्त और शैव थे फिर भी जैन धर्म के प्रति उनका सौहार्द हमेशा बना रहा है।

प्रतिहार राजा वत्सराज (८वीं शती) के समय का ओसिया में महावीर का मन्दिर आज भी विद्यमान है। मंडौर के राजा कक्कुक ने नवीं शती में एक जैन मन्दिर बनवाया था। कोटा के पास की जैन गुफाएँ ८वीं-९वीं शती की हैं तथा ८वीं से ११वीं शती के जीर्ण मन्दिर भी देखने को मिलते हैं। आघाट (उदयपुर) का पार्श्वनाथ मन्दिर एक मन्त्री के द्वारा १०वीं शती में बनवाया गया था। सिद्धर्षि उसी शती में श्रीमालों में जन्मे थे। लोद्रवा (जैसलमेर) में राजा सागर के पुत्रों ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया

था। परमारकालीन १०वीं शती में आबू के राजा कृष्णराज के समय में दियाना (सिरोही) में एक जैन मूर्त्ति की स्थापना की गयी थी। उसी समय के हथुंडी (बीजापुर) के राठौड़ों से जैन धर्म को सहायता मिलने के उल्लेख हैं। विदग्धराज ने तो एक जैन मन्दिर बनवाया था। छठी से बारहवीं शती तक शूरसेनों का राज्य भरतपुर पर था और उस समय के कुछ राजा जैन थे। इस काल में वहाँ पर बहुत-सी प्रतिष्ठाएँ हुईं। अलवर के मन्दिरों के शिलालेख ११वीं-१२वीं शती के गुर्जर प्रतिहारों के काल के प्राप्त होते हैं।

चौहान पृथ्वीराज प्रथम ने १२वीं शती के प्रारम्भ में रणथंभौर के जैन मंदिरों पर सुवर्ण कलश चढ़ाये थे। उसके वंशजों का भी जैन धर्म के प्रति सौहार्द बना रहा। बीसलदेव ने एकादशी को कतलखाने बन्द करवा दिए थे। जिनदत्तसूरि बारहवीं शती में हुए। उनका स्वर्गगमन अजमेर में हुआ था। वे मरुधर के कल्पवृक्ष माने गए थे। पृथ्वीराज द्वितीय ने पार्श्वनाथ मन्दिर की सहायता के लिए बिजोलिया नामक गाँव दान में दिया।

वनराज चावडा ने भिन्नमाल से जैनों को बुलाकर पाटन में बसाया था। हेमचन्द्र के काल में राजस्थान में भी जैन धर्म ने काफी प्रगति की। सोलंकी कुमारपाल ने पाली (जोधपुर) के ब्राह्मणों को यज्ञ में मांस के बदले अन्न का उपयोग करने के लिए बाध्य किया था। उसने जालौर में एक जैन मन्दिर बनवाया था। आबू के जैन मन्दिर भी उसी के काल में बने थे तथा सिरोही का डबाणी गाँव उनकी सहायतार्थ दान में दिया गया था।

सेवाडी के शिलालेखों से मालूम होता है कि वहाँ के राजघराने १०वीं से १३वीं शती तक जैन संस्थाओं की सहायता करते रहे हैं। इसी प्रकार नाड़ौल, नाड़लाई और सांडेराव की जैन संस्थाओं को भी मदद मिलती रही। कुमारपाल के अधीन नाड़ौल के चौहान अश्वराज ने जैन धर्म स्वीकार किया था। १२वीं-१३वीं शतियों में जालौर के जैनों को वहाँ के सामन्तों से सहायता मिलने के लेख विद्यमान हैं। मेवाड़ की एक रानी ने १३वीं शती में चित्तौड़ में पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था। इसी शती में जगचन्द्रसूरि को मेवाड़ के राणा ने तपा की पदवी दी थी और उनका गच्छ तपागच्छ कहलाया। बारहवीं से चौदहवीं शती में झड़ोली, चन्द्रावती, दत्तानी और दियाणा (सिरोही जिला) के मन्दिरों के लिए भूमिदान के लेख मिलते हैं।

कालन्द्री (सिरोही) के पूरे संघ ने १४वीं शती में ऐच्छिक मरण को अपनाया था। जिनभद्र सूरि ने १५वीं शती में जैसलमेर में वृहद्ज्ञान भण्डार स्थापित किया था। राजस्थान में शास्त्र को सुरक्षित रखने का तथा

उसकी अनेक प्रतियाँ करवाने का श्रेय इन्हीं को है। १५वीं शती में राणा कुम्भा ने सादडी में एक जैन मन्दिर बनवाया था। उन्हीं के काल में जैन कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़ के किले में बना था। राणकपुर का जैन मन्दिर भी उसी समय की रचना है जो स्थापत्य कला का एक अत्यन्त सुन्दर नमूना है। राणा प्रताप ने तो हीर विजय सूरि को मेवाड़ में बुलाया था। अकबर के पास जाते समय वे सिरोही में ठहरे थे और उन्हें सूरि की पदवी से वहीं पर ही विभूषित किया गया था। श्वेताम्बर लोंकागच्छ के प्रथम वेशधारी साधु भाणा थे जो अरठवाड़ा (सिरोही) के रहने वाले थे। वे १४७६ में साधु बने थे। तेरापंथ के प्रवर्त्तक भीकम जी भी मेवाड़ के ही थे जो १८वीं शती में हुए।

१७वीं शती में औरंगजेब के काल में कोटा में कृष्णदास ने एक जैन मन्दिर बनाकर बड़ी हिम्मत दिखायी और जैनों के प्रभाव का अच्छा परिचय दिया। समय सुन्दर १६वीं-१७वीं सदी में हुए। वे राजस्थानी के अग्रलेखक माने गए हैं। दिगम्बर तेरापंथ के संस्थापक अमरचन्द सांगानेर के थे, जिनका काल १७वीं शती का है। १८वीं शती में जयपुर के गुमानीराम ने गुमानपंथ की स्थापना की थी।

१५वीं शती से १९वीं शती तक राजस्थान में जैन धर्म का जो प्रभाव रहा वह संक्षेप में इस प्रकार अंकित किया जा सकता है: स्थल-स्थल पर मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठाएँ करना, राजपुरुषों से अनुदान के रूप में जमीन प्राप्त करना इत्यादि, स्तूप, स्तम्भ, पादुकाओं तथा उपाश्रयों की स्थापना और मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना। इसी काल में राजस्थानी और हिन्दी के साहित्यकार भी हुए। जयपुर के कछवाहों के अधीन करीब ५० दीवान जैन थे, जिनके कारण जैन धर्म को सभी क्षेत्रों में प्रोत्साहन मिला।

मुस्लिम आक्रमण के कारण जैन मन्दिरों की मस्जिदें भी बनायी गयीं। १२वीं शती का अजमेर का अढाई दिन का झोपड़ा व सांचौर और जालौर की मस्जिदें जैन मन्दिर ही थे। जीरावला पार्श्वनाथ मन्दिर की भी इसी प्रकार क्षति हुई। १६वीं शती में बीकानेर के मन्दिर पर भी आक्रमण हुआ था। कोटा के शाहबाद में इसी प्रकार औरंगजेब ने एक मस्जिद बनवायी थी।

राजकारण में जैनों के योगदान के भी कई उदाहरण प्राप्त हैं। कुमारपाल के राज्यकाल में विमलशाह आबू के प्रतिनिधि थे। जालौर का उदयन खम्भात का राज्यपाल था। १६वीं शती के वीर तेजा गदहीया ने जोधपुर

का राज्य शेरशाह से राजा मालदेव को वापिस दिलवाया था। दीवान मुहणोत नैनसी, रत्नसिंह भण्डारी, अजमेर के शासक धनराज और कूटनीतिज्ञ इन्द्रराज सिंघी के नाम भी उल्लेखनीय हैं। करमचन्द बीकानेर के राजा का एक दण्डनायक था। मेवाड़ के आशाशाह ने उदयसिंह को शरण दी थी। भामाशाह राणा प्रताप के दीवान थे जिन्होंने प्रताप को आपत्तिकाल में अद्भुत सहायता की थी। ११वीं शती के आमेर के दीवान विमलदास युद्ध में लड़ते-लड़ते मरे थे। दीवान रामचन्द्र ने आमेर को मुगलों से वापिस लिया था। उसका नाम सिक्कों पर भी छपा था।

इस प्रकार यह साबित होता है कि हिन्दू राजाओं के अधीन होते हुए भी राजस्थान में जैनों का प्रभाव और प्रचार राजपूत काल में काफी बढ़ा-चढ़ा था और उसी परम्परा के कारण राजस्थान में अब भी जैन मत के अनुयायी काफी संख्या में पाये जाते हैं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म

उत्तर भारत में अकाल पड़ जाने के कारण भद्रबाहु अपने विशाल मुनिसंघ के साथ श्रवण बेलगोल गये। मौर्य राजा चन्द्रगुप्त ने उनके ही शिष्यत्व में वहाँ पर समाधिमरण किया था। परम्परा से यह भी जानकारी मिलती है कि भद्रबाहु ने अपने शिष्य विशाख मुनि को आगे दक्षिण में चोल और पाण्ड्य देशों में धर्म प्रचारार्थ भेजा था। इस घटना के बल पर भद्रबाहु को दक्षिण देश में जैन धर्म के प्रथम प्रचारक का श्रेय दिया जाता है। परन्तु एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि भद्रबाहु के पूर्व उस प्रदेश में जैनियों का बिल्कुल अभाव था तो इतने बड़े मुनिसंघ ने किन लोगों के आधार व आश्रय पर अकस्मात् एक अपरिचित देश में जाने की हिम्मत की होगी। मालूम होता है कि उनके पहले भी वहाँ पर जैनधर्म विद्यमान था और उनके प्रमाण भी मिलते हैं। अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार लंका में उनके पुत्र-पुत्री द्वारा प्रारम्भ किया गया था, परन्तु जैन धर्म का प्रचार तो उसके पहले ही लंका में हो चुका था। अजैन साहित्य इसका साक्षी है। पालि महावंश तथा दीपवंश के अनुसार पाण्डुकाभय के राज्यकाल में अनुराधापुर में निर्ग्रन्थों के लिए निवास स्थान बनाए गए थे। वह काल ई० पू० पाँचवीं शती का है। इतने प्राचीन काल में लंका में जैन धर्म कहाँ से पहुँचा होगा इसका उत्तर खोजते समय स्वाभाविक तौर से यही कहना पड़ता है कि ई० पू० ५वीं और चौथी शती में कलिंग, आन्ध्र तथा तमिल देश से होता हुआ वह लंका में आया होगा।

अतः भद्रबाहु दक्षिण देश में जैन धर्म के आदि प्रवर्त्तक नहीं वरन् उसको पुनः जागृत करने वाले थे। जिस प्रकार एक धारा आन्ध्र देश से दक्षिण देश में गयी उसी प्रकार भद्रबाहु के काल से दूसरी धारा कर्नाटक से दक्षिण देश को जैन धर्म से आप्लावित करती रही। इस धारा का ईसा की प्रथम १०-१२ शताब्दियों तक दक्षिण में अविच्छिन्न स्रोत बहता रहा है। वहाँ के अनेक ध्वंशावशेषों, मन्दिर व मूर्त्तियों से यही सिद्ध होता है कि यह धर्म वहाँ पर लोकप्रिय रहा है। पूरे के पूरे राजवंशों के साथ इसका जिस प्रकार का दीर्घकालीन सम्बन्ध रहा है वैसा उत्तर भारत में भी नहीं रहा। इस दृष्टि से दक्षिण देश के प्राचीन इतिहास में जैन युगों के दर्शन किए जा सकते हैं।

द्रविड़ प्रदेश

चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार में जो योग दिया था उसके कारण तमिल (द्रविड़) देश में भी जैन धर्म को बल मिला था ऐसा साहित्यिक परम्परा बतलाती है। इस प्रसंग में ई० पू० दूसरी-तीसरी शती के ब्राह्मी लिपि के शिलालेख तथा ईसा की चौथी-पाँचवीं शती की चित्रकारी उल्लेखनीय है।[1] रामनद (मथुरा), तिन्नावली और सितन्नवासल की गुफाओं में उपयुक्त जैन प्रमाण मिलते हैं, जिनसे मालूम होता है कि ये स्थल जैन श्रमणों के केन्द्र थे।

ईसा की करीब १५ शताब्दियों तक जैन धर्म ने तमिल लोगों के साहित्य और संस्कृति के साथ गहरा सम्बन्ध बनाये रखा है। ईसा की प्रथम शताब्दियों में तमिल देश के साहित्य पर जैनों का प्रभाव सुस्पष्ट है। तमिल काव्य कुरल और तोलकाप्पियम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। कुरल के पश्चात् का अधिकतर शिष्ट साहित्य (classical) जैनों के आश्रय में ही फला-फूला। पाँच प्राचीन महाकाव्यों में से तीन कृतियाँ तो जैनों की हैं। सीलप्पदिकारम् (दूसरी शती), बलयापदि और चिन्तामणि (१०वीं शती) ये तीन जैन ग्रन्थ हैं। अन्य काव्यों में नीलकेशी, वृहत्कथा, यशोधर काव्य नागकुमार काव्य, श्री पुराण आदि का नाम लिया जा सकता है। बौद्ध काव्य मणिमेखलइ से भी प्राचीन काल में तमिल देश पर जैनों के प्रभाव और वैभव का काफी दिग्दर्शन होता है।

कुरल के अनुसार मैलापुर तथा महाबलिपुरम् में जैनों की बस्तियाँ थीं।

---

[1] Studies in South Indian Jainism, I, p. 33. & Jainism in South India, pp. 28, 31, 51, 53.

दूसरी शती में मदुरा जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। समन्तभद्र का इस नगरी से जो संबंध रहा है वह सुविदित है। पाँचवीं शती में ही वज्रनन्दी ने यहाँ पर द्रविड़ संघ की स्थापना की थी। कांची प्रदेश के चौथी से आठवीं शती तक के पल्लव राजाओं में बहुत से जैन थे। ह्वेनषांग ने सातवीं शती में कांची को जैनों का अच्छा केन्द्र माना है। सातवीं-आठवीं शती के जैन शिलालेख आरकोट के पास पंचपांडव मलय नामक पहाड़ी पर प्राप्त हुए हैं।

पाँचवीं शती के पश्चात् कलभ्र राजाओं का अधिकार पाण्ड्य, चोल और चेर राज्यों पर हो गया था। यह जैनों का उत्कृष्ट काल था। क्योंकि कलभ्र राजाओं ने जैन धर्म अपनाया था। इसी समय जैन नालदियार की रचना हुई थी। इस प्रकार पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक जैनों का राजनीति पर भी काफी प्रभाव बना रहा। महान् तार्किक अकलंकाचार्य आठवीं शती में हुए थे। तत्पश्चात् शैव और वैष्णव मतों के प्रचार से जैन धर्म अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। सातवीं शती का पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा जैन था, परन्तु बाद में शैव हो गया। पाण्ड्य राजा सुन्दर पक्का जैनी था, परन्तु उसकी रानी और मन्त्री शैव थे उनके कारण तथा शैव भक्त कवि सम्बन्दर के प्रभाव से वह शैव हो गया। शैव नायनारों के कारण सातवीं-आठवीं शती से जैन धर्म को काफी धक्का पहुँचा।

आठवीं शती से वैष्णव अल्वारों ने भी जैनों का जबर्दस्त विरोध करना शुरू कर दिया था। फिर भी ८वीं से १२वीं शती तक के राजाओं ने निष्पक्ष भाव से जैनों के प्रति सहानुभूति भी बरती थी। सितन्नवासल में ८वीं-९वीं शताब्दी के जैन शिलालेख तमिल भाषा में प्राप्त होते हैं। नवीं शती में ट्रावनकोर का तिरूच्छा नट्टमले श्रमणों के पर्वत के रूप में विख्यात था। १०वीं-११वीं शती में चोल और पाण्ड्य देशों में सर्वत्र जैन लोग विद्यमान रहते थे। १३वीं शती में उत्तर आरकोट में जैनों के अस्तित्व के बारे में अच्छे प्रमाण मिलते हैं। तिरूमले स्थान के १०वीं-११वीं और १४वीं शती तक के शिलालेखों से मालूम होता है कि वह उस समय में जैन केन्द्र बना हुआ था। १५वीं-१६वीं शती का बड़ा से बड़ा कोशकार मंडल पुरुष हुआ जिसने निघंटु चूड़ामणि की रचना की।

आन्ध्र प्रदेश (पूर्वकालीन दक्षिण उड़ीसा, कलिंगादि)

कलिंग देश (तोसलि) में स्वयं महावीर गए थे। नन्द राजाओं के समय में कलिंग उड़ीसा में जैनों का काफी प्रचार हो चुका था। खारवेल के समय

ई० पू० दूसरी शती में यहाँ पर जैन धर्म को बहुत प्रोत्साहन मिला क्योंकि वे स्वयं जैन थे। यहाँ के उदयगिरि खण्डगिरि की गुफाओं में १०वीं शती तक के जैन शिलालेख मिलते हैं। सातवीं शती में ह्वेनसांग ने कलिंग देश को जैनों का गढ़ बतलाया है। उसके बाद सोलहवीं शताब्दी में भी उस क्षेत्र के राजा प्रताप रुद्रदेव के जैन सहिष्णु होने के उल्लेख हैं।

सम्राट सम्प्रति के द्वारा आन्ध्र प्रदेश में जैन धर्म को फैलाने के उल्लेख जैन साहित्य में आते हैं। ईसा की दूसरी शती में कुडापा में सिंहनन्दि को दो राजकुमार मिले थे जिन्होंने कर्नाटक के गंगवंश की स्थापना की थी। अतः उस समय इस प्रदेश में जैन धर्म काफी प्रचलित होगा। कालकाचार्य के कथानक से राजा सातवाहन हाल की जैन धर्म के प्रति सहानुभूति होने की झलक मिलती है। पूज्यपाद के पाँचवीं शती में आन्ध्र जाने के उल्लेख मिलते हैं। पूर्वी चालुक्यों ने सातवीं शती में इस प्रदेश में जैन धर्म को प्रगति प्रदान की थी। उस समय विजयनगर के पास रामतीर्थ जैनों का केन्द्र बना हुआ था। आन्ध्र के कोमटी एक समृद्ध वणिक जाति हैं। वे मैसूर से इधर आए थे। गोम्मटेश्वर के भक्त होने के कारण गोमटी से वे कोमटी कहलाने लगे।

आन्ध्र में जैन साहित्य उचित मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ है। मालूम होता है, वह नष्ट कर दिया गया है। क्योंकि पुराने से पुराने तेलगु महाभारत में नन्नय भट्ट ने अपने पूर्व के लेखकों का स्मरण क्यों नहीं किया? इसका कारण यह है कि उसके पूर्व के कवि जैन थे। इसके अतिरिक्त कर्नाटक के पम्प और नागवर्म जैसे बड़े से बड़े कवि या तो आन्ध्र देश के थे या वहाँ से सम्बन्धित थे। इसलिए आन्ध्र में जैन साहित्य की रचना अवश्य हुई होगी जैसा कि तमिल और कन्नड़ भाषाओं में सृजन हुआ है। संस्कृत जैनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय की रचना १४ वीं शती में वेरंगल अय्यपार्य के द्वारा की गयी थी।

कर्नाटक

भद्रबाहु के श्रवण बेलगोल जाने का उल्लेख ऊपर कर आए है। वहीं पर सम्राट चन्द्रगुप्त ने समाधिमरण प्राप्त किया था। उस समय से जैन धर्म का प्रवेश इस प्रदेश में हो चुका था।

ईसा की दूसरी शताब्दी से तेरहवीं शती तक जैनधर्म कर्नाटक का प्रधान धर्म बनकर रहा है। वहाँ के जनजीवन, साहित्य, संस्कृति, कला और दर्शन पर इस धर्म का जो नाना क्षेत्रिय प्रभाव है वह अद्वितीय है। बड़े-बड़े

राजा-महाराजा, सामन्त, श्रेष्ठि और यहाँ तक कि सामान्य प्रजा में इस देश के कोने-कोने में जैनधर्म के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। तमिल साहित्य और भाषा के उद्धार और विकास में जैनों ने जो योग दिया उससे भी अधिक कन्नड़ भाषा और साहित्य के विकास में जैनों की विशेष देन रही है। इस साहित्य के किसी भी विभाग जैसा आगम, पुराण, सिद्धान्त, काव्य, छन्दःशास्त्र, व्याकरण, नीतिशास्त्र, भूगोल, गणित, संगीत इत्यादि को जैनों ने अछूता नहीं रखा। जैन कन्नड़ साहित्य की शैली का प्रभाव आन्ध्र देश पर भी पड़े बिना नहीं रहा।

द्वितीय शती में गंगवंश की स्थापना करने में जैन आचार्य सिंहनंदी का प्रमुख हाथ रहा है। माधव कोनगुणिवर्मा इस वंश के आदि संस्थापक हुए। पाँचवीं शती के पूज्यपाद दुर्विनीत के राजगुरु होने के उल्लेख मिलते हैं। शिवमार, श्रीपुरुष, मारसिंह इत्यादि नरेशों ने अनेक जैन मन्दिर बनवाये तथा मुनियों को दान दिया। मारसिंह (१०वीं शती) ने तो समाधिमरण किया था। वादि घंगल इसी शती के तार्किक थे। राचमल्ल (चतुर्थ) के मंत्री चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की जो विशाल और अद्भुत मूर्त्ति बनवायी वह अपनी कला के लिए जगत विख्यात् है। चामुण्डराय पर नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का प्रभाव उल्लेखनीय है।

इस वंश के अनेक राजा तथा उनके सामन्त, मन्त्री और सेनापतियों ने जैनधर्म के विविधमुखी कार्यों में योगदान दिया। गंग महादेवी, पंपादेवी, लक्ष्मीमती इत्यादि राजमहिलाओं के नाम इस प्रसंग में लेने योग्य है। गंगों की समाप्ति के बहुत पहले ही कदम्बों और राष्ट्रकूटों ने जैनधर्म को अपना लिया था।

वनवासी के कदम्बों में ब्राह्मण धर्म प्रचलित था फिर भी कुछ राजा जैन धर्मी थे। उनमें चौथी शती के काकुस्थवर्मा का नाम उल्लेखनीय है। पाँचवीं शती के श्री विजय, शिव मृगेश वर्मा और श्री मृगेश द्वारा जैनों के श्वेताम्बर, निर्ग्रन्थ, यापनीय और कूर्चक आदि संघों को अलग-अलग भूमिदान करने के शिलालेख प्राप्त होते हैं। हरिवर्मा, रविवर्मा, देव वर्मा इत्यादि के द्वारा भी समय-समय पर मन्दिरों व संघों के लिए गाँव और भूमिदान करने के उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार इस प्रदेश में चौथी से छठी शती तक जैन धर्म लोकप्रिय रहा और राज्य-सम्मान प्राप्त करता रहा।

सातवीं शती से राष्ट्रकूटों का काल प्रारम्भ होता है। इस वंश के साथ जैनों का बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है। दन्तिदुर्ग खड्गावलोक ने आठवीं

शती में अकलंक देव को सम्मानित किया था। अमोघवर्ष प्रथम के गुरु जिनसेन थे जिन्होंने आदि पुराण लिखा है। उनकी प्रश्नोत्तर रत्नमालिका से प्रतीत होता है कि उन्होंने राज्य त्यागकर जैन दीक्षा ग्रहण की थी। उनकी एक अन्य रचना कन्नड़ में अलंकार शास्त्र पर पायी जाती है। शाकटायन व्याकरण पर अमोघवृत्ति नामक टीका इनके ही नाम पर आधारित है। दशवीं शती में जक्कियब्बे एक वीरांगना तथा सफल शासन कर्त्री थी, जिसने समाधिमरण किया था। इस वंश के अन्य राजाओं की जैन धर्म पर महती श्रद्धा रही है। गुणभद्र, इन्द्रनन्दि, सोमदेव, पुष्पदन्त, पोन्न इत्यादि कवियों का आविर्भाव इन्हीं के काल में हुआ था। राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट जैनों का केन्द्र बन गया था क्योंकि इस वंश के राजाओं का इस धर्म के प्रति विशिष्ट प्रेम रहा है। अन्तिम राजा इन्द्र चतुर्थ ने श्रवण बेलगोल में भद्रबाहु की तरह समाधि-मरण किया था।

राष्ट्रकूटों के पश्चात् पुनः पश्चिमी चालुक्यों का कर्नाटक पर अधिकार हो गया था। परन्तु इसके पूर्व भी चालुक्यों का जैन धर्म के प्रति प्रेम बना हुआ था। ऐहोल का रविकीर्त्ति का शिलालेख अपनी काव्यात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध है। यह सातवीं शती के पुलकेशी द्वितीय के समय का है। उस स्थान का मेघुटी मन्दिर रविकीर्त्ति ने बनवाया था। बादामी और ऐहोल की जैन गुफाओं की रचना इसी समय में हुई थी।

पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप द्वितीय (१०वीं शती) को जन धर्म के प्रति अच्छी आस्था थी। इसी के आश्रय में कविरत्न रण्ण ने अजित पुराण कन्नड़ भाषा में लिखा था। दशवीं शती की एक सेनानायक की पुत्री अत्तिमब्बे अपनी दानशीलता के लिए उल्लेखनीय है। ११वीं शती में भी इसी प्रकार का सहारा जैनों को मिलता रहा। वादिराज का पार्श्वनाथ चरित उसी समय का है। श्रीधराचार्य की ज्योतिष विषयक कृति कन्नड़ में सबसे पुरानी रचना है, जो सोमेश्वर प्रथम के समय में रची गयी थी। इस वंश के अन्य राजाओं ने भी जैन धर्म की उन्नति के लिए पर्याप्त सहायता की। इस प्रकार यह राजवंश जैन धर्म का संरक्षक रहा तथा साहित्य सृजन में इसने काफी प्रोत्साहन दिया। जैन मन्दिरों और संस्थाओं को दान के जरिए इनके द्वारा बल मिलता रहा।

होयसल राजवंश को ११वीं शती में संस्थापित करने का श्रेय एक जैन मुनि को ही है। मुनि वर्धमान देव का प्रभाव विनयादित्य के शासन प्रबन्ध पर काफी बना रहा। कितने अन्य राजाओं के गुरु जैनाचार्य रहे हैं। १२वीं

शती के नरेश विष्णुवर्धन पहले जैन थे परन्तु बाद में रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर विष्णु धर्म स्वीकार किया। उस समय से विष्णु धर्म का प्रभाव बढ़ता गया, फिर भी शिलालेखों से उनका जैन धर्म के प्रति स्नेह झलकता है। उनकी रानी शांतल देवी ने तो आजन्म जैन धर्म का पालन किया। विष्णुवर्धन के कई सेनापति और मन्त्री जैन धर्म के उद्धारक बने रहे। गंगराज, उनकी पत्नी लक्ष्मीमती, बोप्प, मरियाने, भरतेश्वर आदि इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। उसके बाद नरसिंह प्रथम, वीर बल्लाल, नरसिंह तृतीय तथा अनेक राजाओं ने जैन मन्दिर बनाये, दान दिया तथा जैन धर्म को समृद्धिशाली बनाया। इस प्रकार बारहवीं-तेरहवीं शती तक जैनों का अच्छा प्रभाव रहा है। नरसिंह प्रथम के चार सेनानायक तथा दो मन्त्री जैन थे। वीर बल्लाल के शासन में भी कितने ही जैन मन्त्री और सेनानायक थे।

इनके अलावा छोटे-छोटे राजघरानों ने भी ७वीं से १३वीं शती तक जैन धर्म का पोषण किया। इस कारण यह धर्म सार्वजनिक बन सका तथा सभी दिशाओं से इसको बल मिलता रहा। ऐसे घरानों में सान्तर नरेश कांगल्व और चांगल्वों तथा करहाड़ के शीलहार राजपुरुषों के जैनोपकारी कार्यों को गिनाया जा सकता है। इनके साथ-साथ अनेक सामन्त, मंत्री, सेनापति, सेठ, साहुकार और कई महिलाओं के धर्म प्रभावना के विविध तरह के वैयक्तिक कार्यों को ध्यान में लिया जा सकता है।

विजयनगर काल

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना १४वीं शती में हुई। उस समय जैन धर्म अस्वस्थ अवस्था में था। परन्तु सहनशीलता और धर्म निरपेक्षता की जो उदारनीति वहाँ के राजाओं ने अपनायी इससे जैन धर्म को काफी राहत मिली। बुक्कराय प्रथम जैनों के शरणदाता थे। सेनानायक इरुगप्प जैन था, उसके कारण जैन धर्म को १४वीं-१५वीं शती में प्रोत्साहन मिला। श्रवण बेलगोल, बेलूर, हलेबीड इत्यादि स्थानों में अन्य धर्मावलंबियों ने जैनों के साथ प्रेमभावना बढ़ायी। पन्द्रहवीं शती के देवराव प्रथम तथा द्वितीय ने जैनों को सहायता दी थी।

विजयनगर की मुख्य राजधानी में जैनों की जड़ें इतनी मजबूत नहीं थीं, परन्तु जिलों में अधिकृत राजघरानों के आश्रय में जैन धर्म का पोषण अच्छी तरह से होता रहा। १६वीं शती के कवि मंगरस ने कितने ही जैन स्थल बनवाये तथा कन्नड़ में कितने ही ग्रन्थ रचे। १४वीं से १७वीं शती तक संगीतपुर, गेरसोप्पे, कारकल इत्यादि जैनों के अच्छे केन्द्र रहे हैं।

बेलारी, कुडाप्पा, कोयंबटूर आदि जिलों में तथा कोल्हापुर, चामराजनगर, रायदुर्ग, कनकगिरि इत्यादि में भी जैनों का प्रभाव बना रहा। शृंगेरी ने १२वीं से १६वीं तथा बेलूर ने १४वीं से १६वीं शती तक जैन धर्म की रक्षा की।

उस काल के सिंहकीर्त्ति, वादी विद्यानंद आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा कितने ही साहित्यकार और पण्डित उस समय में हुए जो जैन धर्म की सेवा करते रहे। इनमें पण्डित बाहुबलि, केशववर्णि, मधुर, यश-कीर्त्ति, शुभचन्द्र इत्यादि को गिनाया जा सकता है।

यह है जैन धर्म के प्रसार का ऐतिहासिक सिंहावलोकन। अपने प्रारम्भिक काल से मध्ययुगीन काल तक जैन धर्म उचित रूप से पनपता रहा। यह पूर्व देश से दक्षिण और पश्चिम की ओर उत्तरोत्तर विकासशील होता गया, यहाँ तक कि दक्षिण में तो वह सुवर्ण युगों में पला। इन आधारों पर से जैनों की संख्या उस समय अन्य धर्मियों के अनुपात में अधिक रही होगी ऐसा अनुमान लगाने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कही जा सकती। एक समय दक्षिण देश में जैनों और बौद्धों का ही बोलबाला था। उस प्रदेश में हिन्दू धर्म ने बाद में प्रवेश किया है, पहले वहाँ पर हिन्दू धर्म का इतना प्रभाव नहीं था। वर्तमान स्थिति को देखते हुए जैन धर्म की अवस्था बिल्कुल विपरीत-सी लगती है। जैनों की संख्या अनुपात में कम हो गयी है, इस अवनति के क्या कारण हो सकते हैं? पूर्व काल में अनेक उच्चकोटि की विभूतियाँ विविध क्षेत्रों में हुईं, उनकी संख्या उत्तरोत्तर काल में घटती ही गयी है। पहले का शासन प्रेम, उदारवृत्ति और निःस्वार्थ सेवा आजकल क्षीण होती जा रही है। सामान्य प्रजा की अनुकूलता के अनुसार धर्म की गतिशीलता बन्द-सी हो गयी है, जबकि यह सर्वविदित है कि गति ही जीवन है। एक तरफ छोटी-छोटी बातों में अधिक से अधिक सूक्ष्मदर्शी हो गए हैं जिनकी उपादेयता सीमित है, तो दूसरी ओर बड़ी-बड़ी बातों में उदासीन वृत्ति घर कर गयी है जिनका कार्य क्षेत्र विस्तृत है और जो वास्तविक रूप में जीवन के सहअस्तित्व से सम्बन्धित है। अनेकान्त और स्याद्वाद पुस्तकों और सिद्धान्तों तक ही सीमित रह गया। सामाजिक और धार्मिक जीवन में उसे पूर्ण शक्ति से अपनाने के अनिवार्य प्रयास ही नहीं हुए। इधर देखें तो गृहस्थ धर्म पर साधु धर्म का प्रभाव बढ़ गया है तो उधर साधु धर्म में गृहस्थ कर्मों का प्रवेश। दो विभिन्न क्षेत्रों की मर्यादाओं का अतिक्रमण होने से साधारण जीवन दुरूह-सा हो रहा है। भगवान महावीर ने उपासक आनन्द को गृहस्थ धर्म के

व्रतों को धारण करवाते समय यह कभी भी नहीं कहा था कि तुम कृषिकार्य का त्याग कर दो। उन्होंने तो इतना ही कहा था कि 'अहा सुहं' धर्माचार स्वीकार करो। अर्थात् अपनी शक्ति और मन के परिणामों के अनुसार धार्मिक मर्यादाओं का पालन करो। लेकिन अर्वाचीन धर्म का स्वरूप ही बदल गया है। कृषिकार्य को घृणास्पद समझा जाता है, उसमें हिंसा मानी जाती है जबकि 'विरुद्धरज्जाइक्कम', 'कूडतुलकूडमाण' और 'तप्पडिरूवगववहार' (अर्थात् राज्य के कानूनों के विरुद्ध कार्य करना, झूठे तोल और झूठे नाप का प्रयोग करना और नकली वस्तुओं को असली के रूप में चलाना) नामक अतिचारों के पोषण में गौरव समझा जाने लगा है। कृषिकार्य साधु तथा गृहस्थ के जीवन को निभाने के लिए मौलिक आवश्यकता है, जिस प्रकार वायु प्राण-धारण के लिए। उस हिंसा को हिंसा नहीं माना गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ ने तो स्वयं ही कृषिकार्य का उपदेश दिया था। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कृषिकार्य-विरोधी उपदेश कहाँ तक उचित और योग्य ठहरते हैं। ऐसी ही अनेक बातें और मुद्दे हैं जिन पर गृहस्थ, साधु, विद्वान और आचार्य समुदाय को विचार करना चाहिए तथा उन मूल कारणों को ढूंढ़ निकालना चाहिए जिनके फलस्वरूप जैन धर्म का ह्रास होता जा रहा है, जबकि आबादी की संख्या के अनुपात से काफी अधिक मात्रा में साहित्य भंडार, कलाकृतियाँ और अन्य सांस्कृतिक सामग्री प्रस्तुत धर्मावलम्बियों के पास में विद्यमान हैं।

संदर्भ ग्रन्थ :

१ Studies in South Indian Jainism by M. S. R. Ayyangar & B. S. Rao, Madras, 1922.

२ Jainism in North India by C. J. Shah, 1932.

३ Mediaeval Jainism by B. A. Saletore, Bombay, 1938.

४ Jainism in Gujrat by C. B. Sheth, Bombay, 1953.

५ Jainism in Bihar by P. C. Roy Choudhury, Patna, 1956.

६ Jainism in South India by P. B. Desai, Sholapur, 1957.

७ Jainism in Rajasthan by K. C. Jain, 1963.

८ Mahavira Jayanti Souvenir, 1964, Bharat Jain Mahamandal, Calcutta.

९ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डा० ही० ला० जैन, भोपाल, १९६२।

१० जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पं० के० च० शास्त्री, वाराणसी, १९६३।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

क्रमशः चन्दनदास ने यह बात सुनी। भला ऐसी बात छिपकर रह ही कैसे सकती थी? चन्दनदास ने मन ही मन सोचा—सागरचन्द्र को प्रियदर्शना से जो प्रेम हो गया है वह उचित ही है कारण कमलिनी की मित्रता राजहंस से ही होती है। किन्तु उसने जो वीरत्व दिखाया वह अनुचित है। क्योंकि पराक्रमी होने पर भी श्रेष्ठी को अपना वीरत्व प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। फिर सागरचन्द्र सरल स्वभाव का है। उसकी मित्रता कपटी अशोकदत्त के साथ हो गयी है यह भी उचित नहीं हुआ। बदरी वृक्ष के साथ कदली वृक्ष जिस प्रकार अहितकर होता है यह भी वैसा ही है। इस प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने सागरचन्द्र को बुलवाया और महावत जिस प्रकार हाथी को शिक्षा देता है उसी प्रकार मीठे शब्दों में उपदेश देने लगे—

"पुत्र, समस्त शास्त्रों का अभ्यास कर तुम यह तो पूर्णतः जान ही गए हो कि व्यवहार कैसे किया जाता है। फिर भी मैं तुम्हें कुछ कहूँगा। हम वणिक हैं। हमलोगों को कला-कौशल से व्यवसाय चलाना पड़ता है। इसीलिए हमलोगों को सौम्य स्वभाव युक्त और मनोहर वेश में रहना पड़ता है। इस प्रकार रहने से हम निन्दा के भाजन नहीं बनते। अतः तरुणावस्था में भी तुम्हें गुप्त पराक्रमी होना होगा। वणिकों को सामान्य अर्थ के लिए भी शंकाशील वृत्ति का कहा जाता है। स्त्रियों की देह का जिस प्रकार आच्छादित होना ही अच्छा है उसी प्रकार हमारी सम्पत्ति, विषय क्रीड़ा और दान का गुप्त रहना ही उचित है। ऊँट के पैरों में बँधा कंकन जिस प्रकार शोभा नहीं देता उसी प्रकार हमारी जाति का अयोग्य (पराक्रम) प्रदर्शन भी हमें शोभा नहीं देता। इसलिए हे पुत्र! कुल परम्परागत योग्य व्यवहारी होकर तुम धन की भाँति गुण को भी गुप्त रखो एवं जो स्वभाव से कुटिल हैं ऐसे दुर्जनों की संगति का परित्याग करो। क्योंकि दुर्जनों की संगति उन्मुक्त श्वान के विष की भाँति समय आने पर अनिष्टकारी ही होती है। हे वत्स! अधिक परिचय से तुम्हारा मित्र तुम्हें उसी प्रकार नष्ट करेगा जैसे कुष्ठ रोग वर्द्धित होकर समस्त शरीर को नष्ट कर देता है। कपटी अशोकदत्त वेश्या की भाँति मन में कुछ सोचता है मुँह से कुछ बोलता है और करता कुछ और है।"

श्रेष्ठी इस प्रकार आदर सहित उपदेश देकर जब चुप हो गए तो सागरचन्द्र मन ही मन सोचने लगा—प्रियदर्शना सम्बन्धी व्यापार इन्हें मालूम हो गया है तभी इस प्रकार उपदेश दे रहे हैं। यह भी समझा कि मेरे मित्र अशोक दत्त का साहचर्य इन्हें पसन्द नहीं है। ऐसा उपदेश देने वाले गुरुजन भाग्यहीनों को नहीं मिलते। जो भी हो मुझे इनकी आज्ञानुसार ही चलना चाहिए। कुछ क्षण चिन्तन करने के पश्चात् सागरचन्द्र विनीत और नम्र स्वर में बोला—"पिताजी, आपने जैसा आदेश दिया है मैं वैसे ही करूँगा कारण मैं आपका पुत्र हूँ। जिस कार्य को करने से गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन हो वह करना उचित नहीं है। किन्तु कभी-कभी देववश अकस्मात् ऐसा समय आ जाता है कि उसके लिए विचार-विमर्श का जरा भी समय नहीं रहता। जिस प्रकार मूर्ख व्यक्ति का स्वयं को पवित्र करते-करते ही आराधना काल व्यतीत हो जाता है इसी प्रकार ऐसा कुछ कार्य उपस्थित हो जाता है कि विचार कर करने जाने पर वह कार्य विनष्ट हो जाता है। फिर भी पिताजी, आज से जीवन संकटापन्न होने पर भी ऐसा कोई कार्य नहीं करूंगा जिससे आपको लज्जित होना पड़े और अशोकदत्त के विषय में आपने जो कुछ कहा मैं उसके दोष से दूषित भी नहीं हूँ और गुणों से गुणान्वित भी नहीं। एक साथ रहना, एक साथ खेलना, बारबार मिलना, समान जाति, समान विद्या, समान शील, समान वयस परोक्ष उपकार और सुख-दुःख में भाग लेने आदि से मेरी उससे मित्रता हो गयी है। मैंने तो उसमें कोई कपट नहीं देखा। उसके सम्बन्ध में किसी ने आपको मिथ्या बतलाया है। क्योंकि दुष्ट व्यक्ति अन्य के लिए दुःखदायी ही होते हैं। यदि वह कपटी भी है तो मेरी क्या क्षति करता है? क्योंकि एक साथ रहने पर भी काँच-काँच ही रहेगा मणि-मणि ही रहेगी।"

सागरचन्द्र के चुप होने पर श्रेष्ठी बोले—"पुत्र, यद्यपि तुम बुद्धिमान हो फिर भी मुझे कहना होगा दूसरों के मनोभावों को जानना अत्यन्त कठिन है।"

पुत्र के मनोभावों के ज्ञाता चन्दनदास ने पूर्णभद्र श्रेष्ठी से अपने पुत्र के लिए शील सम्पन्न प्रियदर्शना की याचना की। पूर्णभद्र श्रेष्ठी ने भी यह कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली कि आपके पुत्र ने तो उपकार द्वारा मेरी कन्या को खरीद ही लिया है।

शुभ दिन शुभ मुहूर्त्त में माता-पिता ने सागरचन्द्र का प्रियदर्शना के साथ विवाह कर दिया। इच्छित दुन्दुभि बजाने से जिस प्रकार आनन्द होता है उसी प्रकार इप्सित विवाह होने से वर-वधू दोनों ही आनन्दित हो गए।

समान अन्तःकरण होने से एकात्मा की भाँति उनका प्रेम सारस पक्षी की भाँति बढ़ने लगा। चन्द्र द्वारा जैसे चन्द्रिका शोभित होती है उसी प्रकार सौम्याकृति हास्यमयी प्रियदर्शना सागरचन्द्र के द्वारा शोभित होने लगी। दीर्घकाल के पश्चात् दैवयोग से शीलवान, रूपवान और सरल स्वभावी दम्पति का योग मिला था। प्रत्येक अन्य का विश्वास करता था अतः उनमें अविश्वास उत्पन्न ही नहीं होता। कारण सरल विश्वासियों के मन में विपरीत शंका का उदय ही नहीं होता।

एकबार सागरचन्द्र जब बाहर गया हुआ था अशोकदत्त उसके घर आया और प्रियदर्शना को बोला—"सागरचन्द्र हमेशा धनदत्त श्रेष्ठी की पत्नी के साथ एकान्त में मिलता है इसका क्या कारण है ?"

स्वभाव सरला प्रियदर्शना बोली—"इसका कारण या तो आपके मित्र जाने या उनके अभिन्न हृदयी मित्र आप जानें। श्रेष्ठ व्यवसायियों के एकान्त कृत कार्य को अन्य कोई नहीं जान सकता। फिर वे भी घर में इसकी चर्चा क्यों करेंगे ?"

अशोकदत्त बोला—"तुम्हारा पति एकान्त में उससे क्यों मिलता है यह मैं जानता हूँ किन्तु वह तुमको नहीं बता सकता।"

प्रियदर्शना बोली—"क्यों नहीं बता सकते ? बोलिए क्या अभिप्राय है ?"

अशोकदत्त बोला—"हे शुभ्रे ! जिस अभिप्राय से मैं तुम्हारे पास आता हूँ वही अभिप्राय।"

अशोक दत्त के इस प्रकार कहने पर भी सरल स्वभावी प्रियदर्शना इसका अर्थ नहीं समझ सकी। बोली—"मेरे पास आप किस अभिप्राय से आते है ?"

वह बोला—"हे शुभ्रे ! तुम्हारे पति के अतिरिक्त क्या अन्य किसी रसज्ञ पुरुष से तुम्हें प्रयोजन नहीं हो सकता ?"

अशोकदत्त का वह वासनापूर्ण वाक्य प्रियदर्शना के कानों में सूई की तरह चुभ गया। वह असन्तुष्ट होकर माथा नीचे किए बोली—"नराधम, निर्लज्ज, तुमने यह सोचा कैसे ? यदि सोचा भी तो उसे प्रकाशित कैसे किया ? मूर्ख ! तुम्हें धिक्कार है ! तुम्हारा यह दुस्साहस ! दुष्ट, तुम मेरे महामना पति को तुम्हारे जैसे होने की सम्भावना है यह मुझे बता रहे हो ? तुम मित्र होकर शत्रु-सा काम कर रहे हो। पापी कहीं के, तुम इसी समय इस स्थान का परित्याग करो। खड़े मत रहो, तुम्हें देखने से ही पाप लगता है।"

इस प्रकार अपमानित होकर अशोकदत्त चोर की भाँति वहाँ से चला गया। गो-हत्या करने की भाँति पाप रूपी अन्धकार से मलीन मुख लिए

अशोकदत्त क्रोध से बड़-बड़ करता जा रहा था। उसी समय सामने से सागरचन्द्र आ रहा था। उसे देखकर सहज स्वभाव से सागरचन्द्र बोला—"मित्र, आज ऐसे दुःखी कैसे दिखलाई पड़ रहे हो ?"

पर्वत तुल्य कपटी अशोकदत्त दीर्घ निःश्वास फेंकता हुआ मानो महान् दुःख से पीड़ित हो इस प्रकार होठ दबाते हुए बोला—"हिमालय के निकट जो रहता है शीत के दुःख का कारण जिस प्रकार उससे छिपा नहीं रहता उसी प्रकार संसार में जो रहता है उससे भी दुःख का कारण छिपा नहीं रहता। फिर भी गुप्त स्थान में हुए फोड़े की भाँति ही यह मेरा दुःख है जिसे न छिपा सकता हूँ न प्रकट कर सकता हूँ।"

ऐसा कहकर आँख में पानी भरकर नाना कपट करता हुआ वह चुप हो गया। तब निश्छल सागरचन्द्र सोचने लगा—ओह! सचमुच ही संसार असार है। तभी तो ऐसे व्यक्ति को भी हठात् दुःख के सम्मुखीन होना पड़ा। धुआँ जिस प्रकार अग्नि की सूचना देता है उसी प्रकार धैर्य द्वारा भी जो नहीं सहा जा सकता उस आन्तरिक दुःख को अश्रु ही प्रकट कर देता है।

कुछ क्षण इस प्रकार चिन्ता करता हुआ उसके दुःख से दुःखी सागरचन्द्र फिर वाष्परुद्ध कण्ठ से बोला—"मित्र, यदि बोलने लायक हो तो तुम इसी समय मुझे तुम्हारे दुःख का कारण बताओ और दुःख का कुछ अंश मुझे देकर स्वयं के दुःख को हलका करो।"

अशोकदत्त बोला—"मित्र! तुम मुझे प्राणों जैसे लगते हो। तुमसे जब मैं अन्य कुछ नहीं छिपा सकता तो यह बात भी कैसे छिपा सकता हूँ। तुम तो जानते ही हो संसार में स्त्रियाँ, अमावस्या जैसे घने अन्धकार की सृष्टि करती है उसी प्रकार, अनर्थ ही उत्पादन करती हैं।"

सागरचन्द्र ने जिज्ञासा प्रकट की, "किन्तु भाई! अभी तुम काल-नागिन-सी किस स्त्री के पल्ले पड़ गए हो ?"

तब अशोकदत्त कृत्रिम सलज्जता दिखलाते हुए बोला—"भाई, प्रियदर्शना मुझे बहुत दिनों से अनुचित बात कह रही थी। मैं यही सोचकर उपेक्षा कर रहा था कि वह स्वयं ही लज्जित होकर चुप हो जाएगी। किन्तु कुलटा की भाँति उसका भाषण बन्द नहीं हुआ। कहा भी गया है कि स्त्रियों का असत् आग्रह बहुत तीव्र होता है। बन्धु, आज मैं तुमसे मिलने तुम्हारे घर गया था तभी उस छलनामयी नारी ने मुझे राक्षसी की भाँति जकड़ लिया। किन्तु, हस्ती जिस प्रकार बन्धन से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार बहुत चेष्टा के पश्चात् उसके बन्धन से मुक्त होकर मैं वहाँ से निकल भागा हूँ। मैं

आते-आते सोच रहा था यह कुलटा जीवन पर्यन्त मेरा परित्याग नहीं करेगी अतः मुझे आत्महत्या कर लेनी चाहिए। किन्तु आत्महत्या करना भी पाप है। कारण यह कुलटा उस समय जो कुछ बोलेगी, मेरे विपरीत ही बोलेगी। इसलिए मैं सारा वृत्तान्त मेरे मित्र को क्यों न बोलूँ जिससे वह उसपर विश्वास कर स्वयं को नष्ट न करे। अथवा यह भी ठीक नहीं है। *कारण मैंने जब उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की है तब क्यों उसके दुःशील की बात* कहकर तुम्हारे घाव पर नमक निक्षेप करूँ। यही सब सोचता हुआ जा रहा था तभी तुम मिल गए। भाई, मेरे दुःख का कारण यही है।"

उसकी बात सागरचन्द्र को ऐसी लगी जैसे उसने तीव्र हलाहल पी लिया है। वह उसी प्रकार निष्पन्द हो गया जैसे निवात समुद्र स्थिर हो जाता है। वह बोला—"स्त्रियाँ ऐसी ही होती हैं। कारण, तिक्त धरती के तल का जल तिक्त ही होता है। मित्र, तुम दुःख मत करो, अच्छे कार्य में स्वयं को लगाओ। उसकी बात को मन में मत लाओ। वह चाहे कैसी भी हो किन्तु उसके लिए हमारी मित्रता में किसी प्रकार की मलीनता नहीं आनी चाहिए।"

सरल स्वभाव सागरचन्द्र की बात से अधम अशोकदत्त बड़ा आनन्दित हुआ। क्योंकि जो कपटी हैं वे अपराध करके भी अपनी प्रशंसा करवाते हैं।

उसदिन से सागरचन्द्र प्रियदर्शना के प्रति स्नेह रहित होकर इस प्रकार रहने लगा—जैसे अंगुली के रोगाक्रान्त होने पर भी मनुष्य उसे काटकर नहीं फेंकता। कारण निज हाथों से रोपी हुई लता यदि बन्ध्या हो तब भी उसे उखाड़ कर नहीं फेंका जाता।

प्रियदर्शना ने अशोकदत्त की बात पति को इसलिए नहीं कही कि कहीं उनमें मित्रता का विच्छेदन हो जाए।

सागरचन्द्र संसार को कारागृह तुल्य समझकर अपना समस्त धन ऐश्वर्य अनाथ दरिद्रों को वितरण कर उन्हें कृतार्थ करने लगा। इस प्रकार जीवन-यापन कर प्रियदर्शना, सागरचन्द्र और अशोकदत्त ने आयुष्य पूर्ण होने पर परलोक गमन किया।

सागरचन्द्र और प्रियदर्शना इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिण भाग में गंगा और सिन्धु के मध्यवर्त्ती भू-भाग में इसी अवसर्पिणी के तृतीय आरे में जबकि पल्योपम का एक अष्टमांश बाकी था तब युगल रूप में उत्पन्न हुए।

पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्र में समय का निर्णायक बारह आरे का एक काल-चक्र होता है। इस काल-चक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो भेद हैं। अवसर्पिणी काल छः भाग या आरों में विभक्त है। यथा—

१ सुषमा-सुषमा—यह आरा चार कोटि × चार कोटि सागरोपम का।
२ सुषमा—यह आरा तीन कोटि × तीन कोटि सागरोपम का।
३ सुषमा-दुःषमा—यह आरा दो कोटि × दो कोटि सागरोपम का।
४ दुःषमा-सुषमा—यह आरा बयालीस हजार कम १ कोटि × बयालीस हजार कम १ कोटि सागरोपम का।
५ दुःषमा – यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का।
६ दुःषमा-दुःषमा—यह आरा भी इक्कीस हजार वर्ष का।

जिस प्रकार अपसर्पिणी के आरों के विषय में कहा गया है उसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी इसके विपरीत क्रम से छः आरे होते हैं (अर्थात् दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा, सुषमा-सुषमा)। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल संख्या कुल बीस कोटि × बीस कोटि सागरोपम है। इसी को कालचक्र कहा जाता है।

प्रथम आरे में मनुष्य की आयु तीन पल्योपम होती है, शरीर तीन कोश लम्बा होता है। वे चौथे दिन आहार ग्रहण करते हैं। सम चतुरस संस्थान सम्पन्न सर्व सुलक्षण युक्त वज्र ऋषभ नाराच संहनन विशिष्ट और सर्वदा सुखी होते हैं। वे क्रोध रहित, मान रहित, निष्कपट और निर्लोभी स्वभाव के अधर्म परिहारी होते हैं। उत्तर कुरु की भाँति उस समय अहोरात्र उनकी इच्छा पूर्णकारी मद्यांगादि इस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं—

१ मद्यांग नामक कल्पवृक्ष इच्छामात्र से ही मद्य देते हैं।
२ भृतांग नामक कल्पवृक्ष भण्डार के तरह पात्र देते हैं।
३ तूर्यांग नामक कल्पवृक्ष तीन प्रकार के वाद्य यन्त्र देते हैं।
४-५ दीपशिखा और ज्योतिशिखा नामक कल्पवृक्ष आलोक दान करते हैं।
६ चित्रांग नामक कल्पवृक्ष विचित्र वर्ण के पुष्प-मालादि देते हैं।
७ चित्ररस नामक कल्पवृक्ष रसोइए की भाँति नानाविध खाद्य देते हैं।
८ मण्यंग नामक कल्पवृक्ष इप्सित अलंकारादि देते हैं।
९ गेहाकार नामक कल्पवृक्ष इच्छा मात्र से गन्धर्व नगरी की भाँति उत्तम गृह देते हैं।
१० अनग्न नामक कल्पवृक्ष मनचाहा वस्त्र देते हैं।

उस समय मिट्टी शर्करा से भी अधिक स्वादयुक्त होती है। नदी आदि का जल अमृत से भी अधिक मीठा होता है। उसी आरे में धीरे-धीरे आयु, संहनन और कल्पवृक्ष का प्रभाव क्रमशः कम होने लगता है।

द्वितीय आरे में मनुष्य की परमायु दो पल्योपम, शरीर दो कोश लम्बा

होता है और वे प्रति तीसरे दिन आहार ग्रहण करते हैं। उस समय कल्पवृक्ष कुछ और कम प्रभाव सम्पन्न, मिट्टी कम स्वादयुक्त और जल कुछ कम मीठा होता है। इस आरे में भी प्रथम आरे की भाँति जैसे हाथी की सूँड़ का व्यास क्रमशः कम होता जाता है उसी प्रकार प्रत्येक विषय कम होने लगते हैं।

तृतीय आरे में मनुष्य की आयु एक पल्योपम, शरीर एक कोश लम्बा होता है और वे द्वितीय दिन भोजन कारी होते हैं। इस आरे में भी पूर्ववर्त्ती आरों की भाँति शरीर आयु मिट्टी का स्वाद और कल्पवृक्ष का प्रभाव क्रमशः कम होने लगता है।

चतुर्थ आरे में कल्पवृक्ष, मिट्टी का स्वाद और जल मिष्टत्व रहित होता है। इस समय मनुष्य की आयु एक कोटि पूर्व और लम्बाई पाँच सौ धनुष होती है।

पंचम आरे में मनुष्य की परमायु एक सौ वर्ष और लम्बाई सात हाथ होती है।

षष्ठ आरे में मनुष्य की परमायु मात्र सोलह वर्ष और लम्बाई सात हाथ होती है।

दुःषमा-दुःषमा नामक आरा से विलोम क्रम से अर्थात् अवसर्पिणी के विपरीत रूप से ६ आरे तक मनुष्य की आयु, लम्बाई आदि वर्द्धित होने लगते हैं।

सागरचन्द्र और प्रियदर्शना तृतीय आरे के शेष भाग में उत्पन्न होने के कारण नौ सौ धनुष लम्बे और पल्योपम की एक दशमांश आयु विशिष्ट युगल हुए। उनकी देह वज्र ऋषभ नाराच संहनन विशिष्ट, सम चतस्र संस्थान युक्त हुयी। मेघ माला से मेरु पर्वत जिस प्रकार शोभा पाता है उसी प्रकार जाति सुवर्ण की-सी कान्ति विशिष्ट युग्मधर्मी (सागरचन्द्र का जीव) प्रियंगुवर्णा स्त्री के द्वारा शोभित हुआ।

अशोकदत्त भी पूर्व जन्म कृत कपट के कारण श्वेत वर्ण का चार दाँत वाला देव हस्ती-सा हाथी बनकर जन्म-ग्रहण किया। एकबार इधर-उधर विचरण करते हुए उसने अपने पूर्व जन्म के मित्र युगल रूप उत्पन्न सागरचन्द्र को देखा।

बीज से जैसे अंकुर उद्गत होता है उसी प्रकार मित्र-दर्शन के अमृत से सिंचित उस हस्ती के शरीर में स्नेह अंकुरित हुआ। तब उसने सूँड़ से उसका आलिंगन किया और उसकी इच्छा न रहते हुए भी उसे उठाकर कंधे पर बैठा लिया। एक दूसरे को देखने के अभ्यास के कारण दोनों को उस समय पूर्व किए हुए कार्य की भाँति पूर्व जन्म की स्मृति हो आयी।

उस समय चार दाँत विशिष्ट हस्ती के स्कन्ध स्थित सागरचन्द्र को अन्यान्य युगलिकगंण विस्फारित नेत्रों से इन्द्र की तरह देखने लगे। वह शंख, कुंद और चन्द्रकी भाँति विमल हस्तीके ऊपर बैठा था इसलिए उन लोगों ने उसे विमल वाहन कहकर अभिहित किया। जाति स्मरण ज्ञान से नीतिशास्त्र ज्ञान होने के कारण, विमल हस्ती पृष्ठ पर आरोहण करने के कारण और स्वाभाविक सौन्दर्य सम्पन्न होने के कारण वह सबका सम्माननीय हो गया।

कुछ समय व्यतीत होने पर चरित्र भ्रष्ट यतियों की तरह कल्पवृक्षों का प्रभाव कम होने लगा। मद्यांग कल्पवृक्ष अल्प और विरस मद्य देने लगे मानों वे पहले के कल्पवृक्ष नहीं हैं, दुर्दैव ने मानो उनकी जगह अन्य कल्पवृक्ष रोपण कर दिया हो। भृतांग कल्पवृक्ष दूँ कि नहीं दूँ इस प्रकार विचार करते हुए प्रार्थना करने पर भी देर से पात्र देने लगे। तूर्यांग कल्पवृक्ष इस प्रकार संगीत परिवेशन करने लगे जैसे उन्हें जबर्दस्ती पकड़कर पारिश्रमिक दिए बिना बैठा दिया हो। दीपशिखा और ज्योतिशिखा कल्पवृक्ष बार-बार प्रार्थना करने पर भी पूर्व की भाँति आलोक नहीं देते—दिन के समय दीपशिखा का आलोक जिस प्रकार होता है वैसा आलोक देने लगे। चित्रांग कल्पवृक्ष अविनयी और आज्ञालंघनकारी सेवक की भाँति अपनी इच्छानुसार पुष्प-माला देने लगे। चित्ररस वृक्ष जिनको दान देने की इच्छा नहीं है ऐसे सदाव्रत की भाँति पूर्व-सा चार प्रकार के रस से सम्पन्न खाद्य अब नहीं देते। मण्यंग कल्पवृक्ष इन्हें दे दूँगा तो फिर कहाँ पाऊँगा इसी चिन्ता में पीड़ित हो कर पहले जैसे अलंकार नहीं देते। कल्पना शक्तिहीन कवि अच्छी कविता जिस प्रकार धीरे-धीरे सृजन करते हैं गेहाकार कल्पवृक्ष उसी प्रकार धीरे-धीरे गृह देने लगे। ग्रह द्वारा बाधित मेघ जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा जल वर्षण करता है उसी प्रकार अनग्न कल्पवृक्ष वस्त्र देने में कार्पण्य करने लगे। उसी समय काल के प्रभाव से युगलियों के देह अवयवों की भाँति कल्पवृक्ष पर ममता होने लगी (अर्थात् यह हमारा है ऐसा सोचने लगे)। एक युगलिक जिस कल्पवृक्ष का आश्रय लिया है उस कल्पवृक्ष का यदि दूसरा युगल आश्रय ले लेता तो पूर्ववर्ती युगलिक स्वयं को पराभूत समझने लगते। (अधिकार के प्रश्न को लेकर) एक दूसरे में पराभव को सहन करने में असमर्थ होकर युगलिकगण विमल वाहन को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर उन्हें अपना प्रभु या नेता मान लिया।

विमल वाहन को जाति स्मरण ज्ञान से नीतिशास्त्र ज्ञान होने के कारण उनमें कल्पवृक्ष को इस प्रकार बाँट दिया जैसे कोई वृद्ध पुरुष अपने गोत्र में धन

बाँट देता है। यदि कोई दूसरे के कल्पवृक्ष की इच्छा कर मर्यादा का त्याग करता तो उसे दण्ड देने के लिए 'हाकार' नीति का प्रयोग किया। समुद्र का जल जिस प्रकार तट की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार—'हाय तुमने ऐसा किया' इस वाक्य को सुनकर वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। वे शारीरिक पीड़ा सहन कर सकते थे किन्तु 'हाय ! तुमने ऐसा किया'—ऐसा अपमान वाक्य सहन नहीं कर सकते थे (अर्थात् ऐसे वाक्य को अधिक दण्ड समझते थे)।

विमल वाहन की आयु जब केवल ६ मास बाकी रह गयी तब उसकी स्त्री चन्द्रयशा ने एक युगल को जन्म दिया। वे युगल असंख्य पूर्व आयु सम्पन्न प्रथम संस्थान प्रथम संहनन युक्त कृष्णवर्ण और आठ सौ धनुष दीर्घ थे। माता-पिता ने उनका नाम चक्षुष्मान और चन्द्रकान्ता रखा। एक साथ अंकुरित वृक्ष और लता की भाँति वे एक साथ बड़े होने लगे।

६ मास तक निज सन्तान का पालन कर विमल वाहन और उनकी स्त्री ने बिना वार्द्धक्य के, बिना किसी रोग से पीड़ित हुए मृत्यु को प्राप्त किया। विमल वाहन सुवर्ण कुमार देवलोक में और उनकी स्त्री चन्द्रयशा नाग कुमार देवलोक में उत्पन्न हुई। चन्द्र अस्तमित होने पर चन्द्रिका भी नहीं रहती।

वहाँ से वह हस्ती भी आयु पूर्ण होने पर नागकुमार देवलोक में नागकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। काल का माहात्म्य ही ऐसा है।

अपने पिता विमलवाहन की भाँति चक्षुष्मान भी हाकार नीति से युगलिकों की मर्यादा की रक्षा करने लगे।

मृत्यु समय निकट आने पर चक्षुष्मान के भी चन्द्रकान्ता द्वारा यशस्वी और सुरूपा नामक युगल पुत्र और कन्या का जन्म हुआ। द्वितीय कुलकर की भाँति ही उनके संहनन और संस्थान थे। आयु अवश्य उनसे कुछ कम थी। आयु और बुद्धि की भाँति वे दोनों बढ़ने लगे। वे साढ़े सात सौ धनुष दीर्घ थे। इसीलिए वे दोनों जब एक साथ बाहर निकलते तोरण के स्तम्भ की भाँति लगते।

आयु शेष होने पर मृत्यु प्राप्त कर चक्षुष्मान सुवर्णकुमार और चन्द्रकान्ता नागकुमारों के मध्य उत्पन्न हुई।

यशस्वी कुलकर अपने पिता की तरह गोप जैसे गायों की रक्षा करता है उसी प्रकार सहज रूप में युगलियों का पालन करने लगे। लेकिन उनके समय लोग 'हाकार' दण्ड का इस प्रकार उल्लंघन करने लगे जैसे मदमस्त हाथी अंकुश की उपेक्षा कर देता है। तब यशस्वी ने उन्हें 'माकार' (तुम

ऐसा मत करो) दण्ड से दण्डित करना प्रारम्भ किया। एक औषधि से यदि व्याधि दूर नहीं होती है तब दूसरी औषधि का प्रयोग करना उचित है। महामति यशस्वी अल्प अपराधी को हाकार नीति एवं अधिक अपराधकारी को 'माकार' नीति से दण्ड देने लगे।

यशस्वी और सुरुपा की आयु भी जब अल्प रह गयी तो जिस प्रकार विनय और बुद्धि एक साथ जन्म ग्रहण करते हैं उसी प्रकार उनके एक युगल पुत्र और कन्या ने जन्म लिया। उन्होंने पुत्र का नाम अभिचन्द्र रखा कारण वह चाँद की भाँति उज्ज्वल वर्ण का था और कन्या का नाम प्रतिरुपा रखा क्योंकि वह देखने में प्रियंगुलता की भाँति कान्ति सम्पन्न थी। वे अपने माता-पिता से कम आयु सम्पन्न और साढ़े ६ सौ धनुष ऊँचे थे। एक साथ मिले हुए शमी और वट वृक्ष की भाँति वे बड़े होने लगे। गंगा और जमुना के मिलित प्रवाह की तरह दोनों निरन्तर शोभित होने लगे।

आयु पूर्ण होने पर यशस्वी उदधि कुमार और सुरुपा नागकुमार भुवन पति देव निकाय में उत्पन्न हुए।

अभिचन्द्र भी अपने पिता की तरह दोनों नीति से दण्ड देने लगे।

अन्तिम अवस्था में प्रतिरुपा ने एक युगल को इस प्रकार जन्म दिया जैसे अनेक प्राणियों की प्रार्थना पर रात्रि चन्द्रमा को जन्म देती है। माता-पिता ने पुत्र का नाम प्रसेनजित रखा और सभी के नेत्रों को प्रिय लगने के कारण कन्या का नाम चक्षुकान्ता रखा। वे दोनों माता-पिता की अपेक्षा कम आयु सम्पन्न तमाल वृक्ष की भाँति श्याम कान्ति एवं बुद्धि और उत्साह की तरह एक साथ बढ़ने लगे। उनकी लम्बाई ६ सौ धनुष और विषुवत् रेखा पर जिस तरह रात और दिन समान होते हैं उसी प्रकार वे समान प्रभा सम्पन्न थे।

मृत्यु के बाद अभिचन्द्र उदधि कुमार और प्रतिरुपा नागकुमार लोक में उत्पन्न हुए।

प्रसेनजित समस्त युगलों के राजा हुए। कारण प्रायः महात्माओं के पुत्र महात्मा ही होते हैं।

कामान्ध व्यक्ति जिस प्रकार लज्जा और मर्यादा का उल्लंघन करता है उसी प्रकार उस युग के युगलिए हाकार और माकार दण्ड नीति की उपेक्षा करने लगे। तब प्रसेनजित के आनाचार रूप महाभूत को भयभीत करने के लिए मन्त्राक्षर की भाँति तृतीय धिक्कार (धिक् तुमने ऐसा किया) नीति को अपनाया। महावत जिस प्रकार तीन अंकुश से हाथी को वशीभूत रखता

है उसी प्रकार कुशल प्रयोगी प्रसेनजित उन तीन नीतियों से (हाकार, मकार, धिक्कार) युगलियों को दण्ड देकर अपने वश में रखने लगे।

कुछ समय पश्चात् जब युग्म दम्पति की आयु सामान्य अवशेष रही तब चन्द्रकान्ता ने स्त्री-पुरुष रूप एक युगल को जन्म दिया। उनकी लम्बाई साढ़े पाँच सौ धनुष थी और वे वृक्ष और छाया की तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे युगल मरुदेव और श्रीकान्ता नाम से लोगों में प्रसिद्ध हुए। सुवर्ण तुल्य कान्ति सम्पन्न मरुदेव अपनी प्रियंगुलता तुल्य प्रिया के साथ नन्दन वन की वृक्ष श्रेणियों से कनकाचल (मेरु) जैसे शोभित होता है वैसे ही शोभित होने लगे।

आयु पूर्ण होने पर प्रसेनजित द्वीप कुमार और चक्षुकान्ता नागकुमार देव-लोक में उत्पन्न हुई।

मरुदेव प्रसेनजित की ही दण्डनीति से इन्द्र जैसे देवताओं को वश में रखता है उसी प्रकार युगलियों को दण्ड देकर अपने वश में रखते थे।

आयु पूर्ण होने में जब थोड़ा समय बाकी रहा तब श्रीकान्ता ने एक युगल को जन्म दिया। पुत्र का नाम नाभि और कन्या का नाम मरुदेवा रखा गया। पाँच सौ धनुष देह वाले वे क्षमा और संयम की भाँति एक साथ बढ़ने लगे। मरुदेवा प्रियंगुलता की भाँति और नाभि सुवर्ण से कान्ति सम्पन्न थे। इससे वे सबको अपने पिता के प्रतिबिम्ब से लगते। उनकी आयु अपने माता-पिता मरुदेव और श्रीकान्ता की आयु से कुछ पूर्व कम थी।

[क्रमशः

पुस्तक समालोचना

जैन प्रतिमा विज्ञान : लेखक, डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० ८+३१६, चित्र ७६, मूल्य १२०) रु०

डा० तिवारी भारतीय इतिहास, कला और संस्कृति के विशेषज्ञ हैं। जैन प्रतिमा विज्ञान पर आपने प्रशंसनीय शोध करके अनेक लेखों द्वारा प्रकाश डाला है। प्रस्तुत पुस्तक आपके सर्वांगीन शोध का परिणाम है। यद्यपि गुजराती और आंग्ल भाषा में इस विषय में विद्वानों ने अपनी शोध द्वारा प्रकाश डाला है पर राष्ट्र भाषा हिन्दी में इस उपयोगी ग्रन्थ का प्रकाशन करके एतद् विषयक अनुसन्धानोत्सुक जनता का बड़ा उपकार किया है। इस ग्रन्थ को ईसा की १२वीं शती और उत्तर भारत की परिधि में सीमित रखा गया है किन्तु नगरकोट, कांगड़ा व पंजाब के संग्रहालयों में प्राप्त सामग्री का उपयोग नहीं हो पाया है एवं जैसलमेर जैसे समृद्ध कलाधाम का सर्वेक्षण यद्यपि काल की सीमा रेखा के लगभग और परवर्त्ती होने पर भी अपेक्षित था जिससे कई नूतन उन्मेष जुड़ जाते। इसी प्रकार गणधर मुद्रा या गुरु मूर्त्तियों का विवेचन अछूता रह गया है।

ग्रंथ के पृष्ठ १६ में राजगीर के लेख से मुनि वैरदेव (वज्र स्वामी) द्वारा गुफाओं के निर्माण का उल्लेख है लिखा सो गुफा तो अत्यन्त प्राचीन है जिसमें शंख लिपि (शैल इन्स्क्रीप्सन) का अद्यावधि अपठित लेख विद्यमान है। सोन भण्डार गुफा के बाहर उस गुफा में अर्हत् प्रतिमा प्रतिष्ठित करने का उल्लेख इस प्रकार है—

"निर्व्वाण लाभाय तपस्वियोग्ये शुभे गुहेऽर्हत् प्रतिमा प्रतिष्ठे।
आचार्य रत्नं मुनि वैरदेव विमुक्तये कारय दीर्घ तेजः॥"

यद्यपि अब इसमें कोई मूर्त्ति नहीं है, पन्द्रह-बीस वर्ष पूर्व तक एक ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन की चौमुख (सर्वतोभद्र) प्रतिमा बीच में स्थित थी जिसपर हजार वर्ष प्राचीन लेख भी था। अस्तु, संलग्न गुफा में कुछ मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं।

पृ० ४६ में "एक पट्ट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे ६२३) पर संभवतः कृष्ण बासुदेव के जीवन का कोई दृश्य उत्कीर्ण है। पट्ट पर ऊपर की ओर एक स्तूप और चार ध्यानस्थ जिन मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण है। जिनमें एक जिनमूर्त्ति पार्श्वनाथ की है। नीचे दाहिनी भुजा से अभयमुद्रा व्यक्त करती एक स्त्री आकृति खड़ी है जिसे लेख में 'अनघ श्रेष्ठी विद्या' कहा गया है। बायीं ओर

की साधु आकृति को लेख में 'कण्ह श्रमण' कहा गया है। जिसके समीप नमस्कार मुद्रा में सात सर्पफणों के छत्र से युक्त एक पुरुष आकृति चित्रित है। अंतगड दशाओं में कृष्ण का 'कण्ह वासुदेव' के नाम से उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि कण्ह वासुदेव ने दीक्षा ली थी। पट्ट की कण्ह श्रमण की आकृति दीक्षा ग्रहण के वाद कृष्ण का अंकन है। समीप की सात सर्पफणों के छत्र वाली आकृति बलराम की हो सकती है।"

इस सन्दर्भ में वास्तविकता तो यह है कि कृष्णजी ने कभी भी श्रमण दीक्षा नहीं ली थी। हाँ, वे तीर्थंकर नेमिनाथ के परम भक्त श्रावक थे। यह प्रतीक कण्ह ऋषि का है। वे अहिच्छत्ता में जन्मे थे और उनकी परम्परा कृष्णार्षि के नाम से विख्यात् हुई थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थानों के पुरातत्व पर अभिनव प्रकाश डाला गया है एवं जैन वाङ्मय के विविध ग्रन्थों के मंथन द्वारा विद्वान लेखक ने जो श्रम किया है अवश्य ही अभिनंदनीय और स्वागतार्थ है। इस विषय पर अध्ययन विस्तृत रूप में वांछनीय है। आशा है विद्वान और अनुसन्धेत्सुगण प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वाध्याय एवं अनुशीलन द्वारा अधिकाधिक लाभान्वित होंगे। हम डा० तिवारी के स्वप्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

पृ० ६३ में लिखा है कि "जैन परम्परा में यह भी उल्लेख है कि नैगमेषी ने मरुदेवी को गहरी नींद में सुलाकर उनके समीप शिशु की एक प्रतिकृति रख दी और शिशु को मेरुपर्वत पर ले गया।" पृ० १११ में कुंभारिया के शांतिनाथ मन्दिर के दृश्यों में "आगे नैगमेषी द्वारा शिशु को मेरु पर्वत पर ले जाने का दृश्य है" ऐसा उल्लेख किया है। इसी प्रकार पृ० १२१ में नेमिनाथ जीवनी के दृश्यों में—"आगे नैगमेषी द्वारा शिशु को जन्माभिषेक के लिए मेरु पर्वत पर ले जाने का दृश्य है" लिखा है।

यह लिखना समीचीन नहीं है। वास्तव में शक्रेन्द्र स्वयं ही भगवान को लेने के लिए आता है और पाँच रूप धारण कर प्रभु को मेरु पर्वत पर ले जाता है।

इसी पेज के दूसरे पैराग्राफ में—"आगे नाभिराज को जैन आचार्यों से मरुदेवी के स्वप्नों का फल पूछते हुए दर्शाया गया है" लिखना भी सही नहीं है क्योंकि भगवान ऋषभदेव ने ही युगल धर्म निवारण किया। वे स्वयं ही प्रथम नरेश्वर, प्रथम साधु हुए थे अतः जैन आचार्यों की उपस्थिति उनसे पूर्व असंभव है। वास्तव में शिल्प के सही पहचान की आवश्यकता है।

—श्री भँवरलाल नाहटा

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या

कुशल निर्देश ।। मार्च १९८२

इस अंक में है 'मंत्रीश्वर कर्मचन्द बच्छावत का साहित्य प्रेम' (अगरचंद नाहटा), 'महावीर के प्रत्येक पुजारी को' (सूरजमल धाड़ीवाल), 'समस्त जैन श्रमण-श्रमणी की संख्या' (अगर चंद नाहटा) 'मातृकाक्षर चैत्य परिपाटी' (भँवरलाल नाहटा)।

जिनवाणी ।। मार्च १९८२

आचार्य श्री हस्तीमलजी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन चरित मूलक प्रबन्ध काव्यों में मोक्ष का स्वरूप' (डा० देवदत्त शर्मा), 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य : मूल्यांकन की समस्या' (डा० देवेन्द्र कुमार जैन), 'Jain Concept of Ahimsa for a House-holder (Rikhab Raj Karnawat), 'दरियापुरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य श्री धर्मसिंहजी और उनके रचित टब्बे' (अगरचंद नाहटा)।

तीर्थंकर ।। फरवरी - मार्च १९८२

साध्वी श्री विचक्षण श्री विशेषांक

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'मुक्ति के सोपान' (मृ० लाभा नागरिका गोविन्दा, अनु० दिनकर सोनवलकर), 'जैन कोकिला' (भँवरी बाई), 'पारस स्पर्श : जो लोहे को बनाता रहा कांचन' (जवाहरलाल मुणोत), 'साधनादीप की अकम्प लौ' (डा०नेमीचन्द जैन), 'विचक्षण साहित्य', 'मृत्युंजया' (राम शर्मा), 'करुणा की गंगा समता की जमुना' (डा० निजामुद्दीन), 'स्थित-प्रज्ञा विचक्षण श्री जी' (डा० प्रभाकर माचवे), 'व्याधि में समाधिस्थ व्यक्तित्व' (डा० प्रेमसुमन जैन), 'ज्ञान-रसिका विचक्षण श्री' (डा० शान्ता भानावत), 'कालजयी व्यक्तित्व : साध्वी श्री विचक्षण श्री' (चन्दनमल चाँद), 'दाख की तरह मधुर, बचपन से ही विचक्षण' (अभय छजलानी), 'समता और सहिष्णुता से परिपूर्ण व्यक्तित्व' (साध्वी हेमप्रभा श्री), 'समता, वत्सलता और करुणा की मूर्त्ति वे' (राजस्वरूप टांक), 'गहुँलियां' (भँवरी बाई), 'पत्र संपदा', 'बातचीत' (साध्वी मणिप्रभा जी/डा० नेमीचन्द जैन), 'प्रवचन' (साध्वी श्री विचक्षण/ साध्वी श्री मणिप्रभा)।

श्रमण ।। मार्च १९८२

इस अंक में है 'नैतिक आचरण विधि : सोरेन कीर्केगार्ड और जैन दर्शन' (पाण्डेय रामदास 'गम्भीर'), 'अहिंसा परमो धर्मः' (रविशंकर मिश्र), 'दशरूपक की अवलोकवृत्ति में उद्धृत एक अव्याख्यात गाथा और उसका अर्थ' (विश्वनाथ पाठक)।

तित्थयर

वर्ष ५

मई १९८१—अप्रैल १९८२

वार्षिक सूची

कथानक

—	अग्निका पुत्र	७८, १०४
पूरणचन्द सामसुखा	जम्बु कुमार	२७२
हेमचंद्राचार्य	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र	१०१, १४४, १७६, २०७, २३५, २६४, ३०४, ३४०, ३६९

कविता

सुमन्त भद्र	उन्मेष	२०६

जीवनी

भँवरमल सिंघी	मुनि जिनविजय जी : आजीवन अनुसन्धानरत कर्मयोगी	३७

जैन पत्र-पत्रिकाएँ

	जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या	३१, ६३, ९६, १२८, १५९, १९२, २२३, २५५, २८७, ३१७, ३५२, ३८२

निबन्ध

—	जैन चित्र कला	१३३
कल्याण विजय गणि	प्राचीन जैन तीर्थ	१७, ४२, ६९
कन्हैयालाल भाईशंकर दवे [अनु० भँवरलाल नाहटा]	जैन धर्म व जैन प्रतिमाएँ	२७, ५१, ८४
के० रिषभचन्द्र	जैन धर्म का प्रसार	३००, ३२८, ३५७
चाँदमल सिपाणी	खरतरगच्छ का जैन जगत को योगदान	३२५
ज्योति प्रसाद जैन	विदेशों में जैन धर्म	२६१
नेमिचन्द्र जैन	जैन कोश साहित्य	२४२, २७६
नरेन्द्र कुमार सेठी	तप	३१५
पूरणचन्द सामसुखा	जैन धर्म व अहिंसा	२५०
—	जैन शास्त्र में नारी का स्थान	१८९
—	ब्राह्मण और जैन संस्कृति	११०
—	ब्राह्मण और श्रमण	३३६

भूरचन्द जैन	चित्तौड़ का जैन कीर्ति स्तम्भ	११४
मुनि रूपचन्द्र	ज्योति से ज्योति जले	१६५
यु० पी० शाह	महातापस गोम्मटेश्वर बाहुबली	५
युधिष्ठिर माजी	देऊलघाटा के दीवाल चित्र और सराक संस्कृति	२६३
—	प्राचीन सराक संस्कृति की सुवर्ण भूमि पाकविड़रा	१६७
राजकुमारी बेगानी	भक्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन	२२६
लक्ष्मी नाहटा	भारतीय राजनीति में जैन धर्म का योगदान	१६६
हरिसत्य भट्टाचार्य	जेन दर्शन में कर्मवाद ११७, १४६, १८५,२१४	
	पुस्तक समालोचना	
भँवरलाल नाहटा	जैन प्रतिमा विज्ञान	३८०
	संकलन	
	जैन पुस्तक विक्रय केन्द्र की आवश्यकता	३१६
	चित्र	
	अग्निका पुत्र, प्राचीन चित्र	१००
	ऋषभनाथ, औराई	१६४
	ऋषभनाथ के चतुर्विंशति पट्ट, भैरवसिंहपुर	३५६
	चक्रेश्वरी, माउन्ट आबू	२२८
	जैन देवी, देवगढ़	२६०
	पद्मवन, सित्तन्नवासल	१३५
	महावीर प्रव्रज्या, कल्पसूत्र	१३८
	महावीर समवसरण, कल्पसूत्र	१३६
	मुनि जिनविजय जी	३६
	बाहुबली, प्रभास पाटन	१३२
	बाहुबली, मथुरा	६८
	बाहुबली, श्रवण बेलगोल	४
	सराक जैन मन्दिर, देउलघाटा	२६२, २६५
	सराक जैन मन्दिर, पाकविड़रा	१६६, २०१

Vol V No 12 : Titthayara : April 1982
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture

for

Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD

CALCUTTA-700001